शौनककृतम्

ऋग्वेद-प्रातिशाख्यम्

Scanned with CamScanner

(गुरुसंज्ञा)

गुरूणि दीर्घाणि ॥२०॥

(गुरुसंज्ञा)

सू० अ०—'दीर्घ' ('स्वर') 'गुरु' हैं।

उ० भा०—यानि दीर्घाणि अक्षराणि तानि; (गुरूणि=) गुरुसंज्ञकानि; वेदितव्यानि। प्लुतस्याप्यत्र ग्रहणं द्रष्टव्यम्; यो हि द्विमात्रं गुरुं कल्पयति कल्पयत्येवासौ त्रिमात्रमपीति। यथा—आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई३ इति। गुरुसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"गुर्वक्षराणां गुरुवृत्ति"[1] इति।

टि० (क) भाष्यकार ने 'उभय'-शब्द के द्वारा प्रकृत 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' 'स्वर' (-वर्णों) का अन्तर्भाव न करके जो व्यवहित लृकार और 'प्लुत' ईकार का अन्तर्भाव किया है वह अस्वाभाविक है। भाष्यकार ने खींचातानी करके जो अर्थ इस सूत्र का किया है वह सूत्रकार को अभीष्ट नहीं था। सूत्रकार ने १३।३५ और १।३० में क्रमशः लृकार और 'प्लुत' ईकार के स्वरत्व का जो विधान किया है उससे उनका अक्षरत्व भी सूचित हो जाता है। इसके अतिरिक्त १८।३२ में सूत्रकार ने स्वयं ही स्पष्ट शब्दों में सभी 'स्वर'-वर्णों की 'अक्षर' संज्ञा का विधान किया है।

---

[1] १८।६०

Scanned with CamScanner

उ० भा० अ०—जो; **दीर्घाणि**=‘दीर्घ’ ‘अक्षर’ हैं उन्हें; (**गुरूणि**=) गुरु-संज्ञक; जानना चाहिये। ‘प्लुत’ (‘स्वर’-वर्ण) का भी यहाँ ग्रहण समझना चाहिये, क्योंकि जो दो मात्राओं वाले (‘दीर्घ’ ‘स्वर’-वर्ण) को ‘गुरु’ मानता है वह तीन मात्राओं वाले (‘प्लुत’ ‘स्वर’-वर्ण) को भी (निःसन्देह ‘गुरु’) मानता है। जैसे—आ, ॠ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई३। **गुरुसंज्ञा का प्रयोजन**—“जो स्वभाव से गुरु है वह **गुरु** अक्षरों से (सम्बद्ध है)।”

तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि ॥२१॥

सू० अ०—उसी प्रकार दूसरों (अर्थात् ‘ह्रस्व’ स्वरों) में जो ‘संयोग’-पर (‘संयोग’ है परे जिनके) और ‘अनुस्वार’-पर (‘अनुस्वार’ है परे जिनके) हैं (वे भी ‘गुरु’-संज्ञक हैं)।

उ० भा०—यथा दीर्घाणि गुरुसंज्ञकानि तथा; इतरेषाम्=ह्रस्वानामक्षराणाम्; **(यानि स्वरानुस्वारपराणि=)** यानि संयोगपराणि यानि चानुस्वारपराणि; तानि गुरुसंज्ञकानि भवन्ति। **संयोगपराणि**—“प्रप्र वस्त्रिष्टुभम्”[1] इति। **अनुस्वारपराणि**—“वसुं सूनुं सहसो जातवेदसम्”[2] इति; “त्वं सोमासि सत्पतिः।”[3] पारिशेष्याबन्यानि लघुसंज्ञकानि “संहितायां लघोर्लघु”[4] इति संव्यवहारदर्शनाच्च। “ऋषभं मा समानानाम्”[5] इत्युदाहरणम्॥

उ० भा० अ०—जिस प्रकार ‘दीर्घ’ (‘स्वर’-वर्ण) ‘गुरु’-संज्ञक हैं; **तथा**=उसी प्रकार; **इतरेषाम्**=ह्रस्व स्वरों में; **(यानि संयोगानुस्वारपराणि=)** जो ‘संयोग’-पर और ‘अनुस्वार’-पर हैं, वे ‘गुरु’-संज्ञक हैं (अर्थात् वे ‘ह्रस्व’ ‘स्वर’-वर्ण भी ‘गुरु’-संज्ञक होते हैं, जिनके परे संयुक्त ‘व्यञ्जन’ हो या ‘अनुस्वार’ हो)। ‘संयोग’-पर (का उदाहरण)—“प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषम्।” ‘अनुस्वार’-पर (का उदाहरण)—“वसुं सूनुं सहसो जातवेदसम्”; “त्वं सोमासि सत्पतिः।” शेष होने से और “संहिता में ‘लघु’ (‘अक्षर’) से परे ‘लघु’ (‘अक्षर’) हो तो (अकार का ‘अभिनिधान’ हो जाता है)” (इस सूत्र में) व्यवहार दिखलाई पड़ने से (‘गुरु’-संज्ञक अक्षरों से) अन्य (‘अक्षर’) ‘लघु’-संज्ञक हैं। “ऋषभं मा समानानाम्”—यह उदाहरण है।

(अनुस्वारव्यञ्जनयोरङ्गत्वविचारः)

अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम् ॥२२॥

(अनुस्वार और व्यञ्जन के पूर्वाङ्ग तथा पराङ्ग होने का विचार)

सू० अ०—‘अनुस्वार’ और ‘व्यञ्जन’ ‘अक्षर’ (‘स्वर’-वर्ण) का ‘अङ्ग’ (होते हैं)।

उ० भा०—एवम्—“अष्टौ समानाक्षराणि”[6] इत्यादिना वर्णसमाम्नायमनुक्रम्य ततः—“सर्वः शेषो व्यञ्जनानि”[7] इत्यादिना व्यञ्जनगताः संज्ञाः कृत्वा अनन्तरम्—“ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ताः स्वराणाम्”[8] इत्यादिनाक्षरगताः संज्ञाः कृत्वा अधुनाक्षरव्यञ्जनसंनिकर्षे किं

[1] ऋ० ८।६९।१ [2] ऋ० १।१२७।१ [3] ऋ० १।९१।५
[4] २।३५ [5] ऋ० १०।१६६।१ [6] १।१
[7] १।६ [8] १।१७

कस्याङ्गमित्येतदभिरूपणायाह—अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्, स्वराङ्गविवर्जम्। अत्र यानि स्वरमध्यगतानि व्यञ्जनानि न भवन्ति तान्युदाहरणम्। यथा, प्र—रकारेफाकारस्याङ्गम्; “वर्क्”[1]—वकाररेफककारा अकारस्याङ्गम्; “चक्रं यत्”[2]—ककाररेफानुस्वारा अकारस्याङ्गम्। अव्यञ्जनत्वादनुस्वारस्य ग्रहणम्। अङ्गसंज्ञायाः प्रयोजनम्—यानि यस्य स्वरस्याङ्गभूतानि व्यञ्जनानि तानि तेनैव स्वरेण समानस्वराणि भवन्ति। तथा चोक्तम्—

“स्वरः उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्॥”[3]

उ० भा० अ०—इस प्रकार—“(वर्णमाला के आदि में) आठ (‘अक्षर’) ‘समानाक्षर’ हैं” इत्यादि के द्वारा वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) का प्रतिपादन करके तत्पश्चात्—“शेष सब (वर्ण) ‘व्यञ्जन’ हैं” इत्यादि के द्वारा ‘व्यञ्जन’-विषयक ‘सर्व’ आदि संज्ञाओं को करके (उसके) बाद—“‘स्वर’ (-वर्णों) में सप्तमपर्यन्त विषम (‘स्वर’-वर्ण) ‘ह्रस्व’(-संज्ञक) हैं” इत्यादि के द्वारा ‘अक्षर’-विषयक (‘ह्रस्व’ आदि) संज्ञाओं को करके अब—‘अक्षर’ (‘स्वर’-वर्ण) और ‘व्यञ्जन’ का मेल (संनिकर्ष) होने पर कौन किसका ‘अङ्ग’ होता है—इसका निरूपण करने के लिये कहते हैं—**अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्**=‘अनुस्वार’ और ‘व्यञ्जन’ ‘अक्षर’ के ‘अङ्ग’[क] (होते हैं) अर्थात् ‘स्वर’ (-वर्ण) के ‘अङ्ग’ (होते हैं)। जो ‘व्यञ्जन’ (दो) ‘स्वर’ (-वर्णों) के मध्य में विद्यमान नहीं हैं, वे यहाँ (अर्थात् इस सूत्र के) उदाहरण हैं। जैसे, ‘प्र’—पकार और रेफ अकार के ‘अङ्ग’ हैं; ‘वर्क्’—वकार, रेफ और ककार अकार के ‘अङ्ग’ हैं; “चक्रं यत्”—ककार, रेफ और ‘अनुस्वार’ अकार के ‘अङ्ग’ हैं। ‘अनुस्वार’ ‘व्यञ्जन’ नहीं है—इसलिये ‘अनुस्वार’ का (सूत्र में) (पृथक्) ग्रहण (किया गया है)। ‘अङ्ग’-संज्ञा का प्रयोजन—जो ‘व्यञ्जन’ जिस ‘स्वर’ (-वर्ण) के ‘अङ्ग’ होते हैं वे (‘व्यञ्जन’)

टि० (क) प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में ‘अक्षर’ को भाषा की मूल इकाई माना गया है। तै० प्रा० १।२ पर ‘वैदिकाभरण’ भाष्य में ‘अक्षर’ की यह परिभाषा दी गई है—“क्षरन्तीत्यक्षराणि क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्।” इस परिभाषा के अनुसार ‘अक्षर’ वह है जो अन्य का ‘अङ्ग’ न बने। ‘स्वर’-वर्ण को ही ‘अक्षर’ माना गया है, ‘व्यञ्जन’-वर्ण को नहीं, क्योंकि (१) ‘स्वर’-वर्ण निरपेक्ष होता है—वह किसी अन्य की सहायता के बिना उच्चरित होता है। ‘व्यञ्जन’ सापेक्ष होता है—वह ‘स्वर’-वर्ण की सहायता के बिना उच्चरित नहीं हो सकता, (२) जिस प्रकार दुग्ध और जल के मिश्रण होने पर दुग्ध ही परिलक्षित होता है, उसी प्रकार ‘स्वर’-वर्ण और ‘व्यञ्जन’-वर्ण का संनिकर्ष होने पर ‘स्वर’-वर्ण ही परिलक्षित होता है, ‘व्यञ्जन’-वर्ण नहीं। (३) ‘उदात्त’, ‘अनुदात्त’ और ‘स्वरित’ (‘स्वर’) ‘स्वर’-वर्ण के ही गुण होते हैं, ‘व्यञ्जन’-वर्ण के नहीं।

‘अक्षर’ न होने के कारण ‘व्यञ्जन’ और ‘अनुस्वार’ इन दोनों को ‘स्वर’-वर्ण (‘अक्षर’) का ‘अङ्ग’ बनना पड़ता है। सभी प्रातिशाख्यों ने ‘अक्षर’-विभाजन के नियमों को प्रतिपादित किया है। यही ‘अङ्ग’-संज्ञा है।

[1] ऋ० १।६३।७ [2] ऋ० १०।७३।९ [3] या० शि० ११८

Scanned with CamScanner

उसी 'स्वर' (-वर्ण) के समान 'स्वर' (accent) वाले हो जाते हैं (अर्थात् यदि 'स्वर' (-वर्ण) 'उदात्त' है तो उसका अङ्गभूत 'व्यञ्जन' भी 'उदात्त' होगा, इत्यादि)। वैसा कहा भी है—

"'स्वर' (-वर्ण) 'उदात्त' (उच्च) (होता है), 'स्वर' (-वर्ण) 'अनुदात्त' (नीच) (होता है) और 'स्वर' (-वर्ण) 'स्वरित' भी (होता है)। तीनों (अर्थात् 'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित') 'स्वर' (accent) 'स्वर'-प्रधान हैं (अर्थात् 'स्वर'-संज्ञक वर्ण पर आश्रित हैं)। 'व्यञ्जन' (जिस 'स्वर'-वर्ण का 'अङ्ग' होता है) उस ('स्वर'-वर्ण) के समान 'स्वर' वाला हो जाता है।

स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य ॥२३॥

सू० अ०—(दो) 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में (वर्तमान) 'व्यञ्जन' बाद वाले ('स्वर'-वर्ण) के ('अङ्ग' होते हैं)।

उ० भा०—एवं तावद्यत्रैकः स्वरस्तत्र पूर्वाणि परानि च व्यञ्जनानि तस्यैवाङ्गं भवन्ति। अथ पुनर्यानि स्वरयोर्मध्यगतानि तानि किं पूर्वस्य उत उत्तरस्याङ्गमित्यस्मिन्सन्देहे त्विदमारभ्यते। (स्वरान्तरे=)स्वरयोरन्तरे; यानि व्यञ्जनानि तानि उत्तरस्य एवाङ्गं भवन्ति, न पूर्वस्य। यथा, अ॒यम्—इत्ययं-शब्दस्यान्तोदात्तत्वाद्यकार उदात्तवच्छ्रूयते। तथा—"अ॒यं दे॒वाय॒ जन्म॑ने"[1]—इत्यत्रैकारस्यानुदात्तत्वाद्यकारोऽनुदात्तवच्छ्रूयते। यथा—"गा॑यन्ति त्वा"[2] इत्यकारस्य स्वरितत्वाद्यकारः स्वरितवच्छ्रूयते॥

उ० भा० अ०—इस प्रकार जहाँ (जिस पद में) एक 'स्वर' (-वर्ण) हो वहाँ पूर्ववर्ती और परवर्ती 'व्यञ्जन' उसी ('स्वर'-वर्ण) के 'अङ्ग' होते हैं। किन्तु इसके विपरीत जो 'व्यञ्जन' दो 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में होते हैं वे ('व्यञ्जन') क्या पूर्ववर्ती ('स्वर'-वर्ण) के ('अङ्ग' होंगे) अथवा परवर्ती ('स्वर'-वर्ण) के 'अङ्ग' (होंगे)?—यह संदेह होने पर तो यह (सूत्र) आरम्भ करते हैं। दो 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में जो 'व्यञ्जन' (होते हैं) वे ('व्यञ्जन') परवर्ती ('स्वर'-वर्ण) के ही अङ्ग होते हैं, पूर्ववर्ती ('स्वर'-वर्ण) के नहीं। जैसे, अ॒यम्—यहाँ 'अयम्' शब्द के 'अन्तोदात्त' होने से यकार 'उदात्त' के समान सुना जाता है। वैसे ही—"अ॒यं दे॒वाय॒ जन्म॑ने"—यहाँ पर ('दे' के) एकार के 'अनुदात्त' होने से यकार 'अनुदात्त' के समान सुना जाता है। जैसे—"गा॑यन्ति त्वा" में अकार के 'स्वरित' होने से यकार 'स्वरित' के समान सुना जाता है।

पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ ॥२४॥

सू० अ०—'अनुस्वार' और 'विसर्जनीय' पूर्ववर्ती ('स्वर'-वर्ण) के ('अङ्ग' होते हैं);

उ० भा०—"स्वरान्तरे" इति वर्तते। अनुस्वारविसर्जनीयौ स्वरान्तरे वर्तमानौ पूर्वस्वरस्याङ्गं भवतः। व्यानुस्वारस्योदाहरणं भवति—"व॑सुं सू॒नुं सह॑सः।"[3] विसर्जनीयस्य—"नृ॒ः पात्र॑म्"[4] इति; "नृ॒ः प्रणे॑त्रम्"[5] इत्येवमादि॥

[1] ऋ० १।२०।१ [2] ऋ० १।१०।१ [3] ऋ० १।१२७।१
[4] ऋ० १।१२१।१ [5] तै० ब्रा० ३।६।२।१

उ० भा० अ०—(२।२३ से) "स्वरान्तरे" की अनुवृत्ति हो रही है। 'अ
और 'विसर्जनीय' दो 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में होने पर पूर्ववर्ती 'स्वर' (-वर्ण) के
होते हैं। जैसे, (यह) 'अनुस्वार' का उदाहरण है—"व॑सुं सू॒नुं सह॑सः।" 'विसर्जनीय'
(उदाहरण)—"नृ॒ः पात्र॑म्"; "नृ॒ः प्रणे॑त्रम्" इत्यादि[6]।

संयोगादिर्वा ॥२५॥

सू० अ०—'संयोग' का प्रथम (वर्ण) (दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य में होने पर) विकल्प से (पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण का अथवा परवर्ती 'स्वर'-वर्ण का 'अङ्ग' होता है)।

उ० भा०—संयोगस्यादिभूतो वर्णः स्वरान्तरे वर्तमानः पूर्वस्य वा स्वरस्याङ्गं भवति परस्य वा। यथा—"आ स्त्वा॒ र॑थम्"[1] इति द्वौ तकारौ वकारश्च संयोगः। तत्र क्रमजः प्रथमस्तकारः पूर्वस्याङ्गं तस्य चोदात्तत्वादुदात्तवच्छ्रूयते। द्वितीयः संयोगादिः पूर्वस्य वोदात्तस्य स्वरस्याङ्गमुत्तरस्य वानुदात्तस्वरस्याङ्गमुदात्तानुदात्तवच्छ्रूयत इत्यर्थः। वकारो द्वितीयस्य स्वरस्याङ्गं तस्य चानुदात्तत्वादनुदात्तवच्छ्रूयते।

तथा—"अ॒ग्निमी॑ळे"[2] इति द्वौ गकारौ नकारश्च संयोगः। तत्र प्रथमो गकारः क्रमजः पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं तस्य चानुदात्तत्वादनुदात्तवच्छ्रूयते। द्वितीयो गकारः संयोगादिः स यमीभूतः पूर्वस्य वा स्वरस्याङ्गं परस्य वोदात्तसंज्ञितस्योदात्तानुदात्तवच्छ्रूयते। नकारो द्वितीयस्य स्वरस्याङ्गं तस्य चोदात्तत्वादुदात्तवच्छ्रूयते॥

उ० भा० अ०—'संयोग' का प्रथम वर्ण दो 'स्वर' (-वर्णों) के मध्य में होने पर या तो पूर्व 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' होता है या परवर्ती ('स्वर'-वर्ण) का ('अङ्ग' होता है)। जैसे—"आ स्त्वा॒ र॑थम्" यहाँ दो तकारों और वकार का 'संयोग' है। उनमें द्वित्व ('क्रम') से उत्पन्न प्रथम तकार पूर्ववर्ती ('स्वर'-वर्ण) का 'अङ्ग' है और उस (पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण) के 'उदात्त' होने से (प्रथम तकार) 'उदात्त' के समान सुना जाता है। 'संयोग' का प्रथम (वर्ण)=द्वितीय (तकार) या तो पूर्ववर्ती 'उदात्त' 'स्वर'(-वर्ण) का 'अङ्ग' (होता है) या परवर्ती 'अनुदात्त' 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' (होता है); उदात्तानुदात्तवत् सुना जाता है—यह अर्थ है (अर्थात् या तो 'उदात्त' के समान सुना जाता है या 'अनुदात्त' के समान)। वकार द्वितीय 'स्वर' (-वर्ण) का 'अङ्ग' है और उस (द्वितीय 'स्वर'-वर्ण) के 'अनुदात्त' होने से (वकार) 'अनुदात्त' के समान सुना जाता है।

टि० (क) इस सूत्र में "स्वरान्तरे" की अनुवृत्ति आवश्यक है क्योंकि दो 'स्वर'-वर्णों के मध्य में न आने वाले 'अनुस्वार' और 'विसर्जनीय' तो १।२२ से ही पूर्ववर्ती 'स्वर'-वर्ण के 'अङ्ग' हो जाते हैं। किन्तु यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि 'अनुस्वार' और 'विसर्जनीय' के तुरन्त बाद में ही 'स्वर'-वर्ण हो। 'अनुस्वार' या 'विसर्जनीय' तथा परवर्ती 'स्वर'-वर्ण के मध्य में एक या अनेक 'व्यञ्जन'-वर्णों का व्यवधान भी हो तो कोई हानि नहीं है जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है।

[1] ऋ० ८।६८।१ [2] ऋ० १।१।१ [6]